
bdkbz 18 'जूठन' : अवमानना और बहिष्कार ds nã k

bdkbz dh : i js[kk

- 18.0 उद्देश्य
- 18.1 प्रस्तावना
- 18.2 जाति विद्वेष की लपटों से झुलसता बचपन
- 18.3 'जूठन' की वैचारिक पृष्ठभूमि
- 18.4 अवमानना व बहिष्कार
- 18.5 जाति का सामाजिक-आर्थिक पक्ष
 - 18.5.1 सामाजिक विद्रूपताओं से अवमानित दलित
 - 18.5.2 जाति का आर्थिक संदर्भ
- 18.6 भाषा और शिल्प

18-0 mĩs ;

आत्मकथन 'जूठन' की यह दूसरी इकाई अध्ययन के लिए आपके सामने है। इससे पहले की इकाई में आप 'जूठन' के लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि के व्यक्तित्व, जीवन संघर्ष, चिंतन, रचनात्मक लेखन की विशेषताओं एवं व्यक्तित्व से परिचित हो चुके हैं। आपने भारतीय समाज एवं साहित्य के संदर्भ में दलित आत्मकथन की अवधारणा को जाना। हिंदी में लिखित दलित आत्मकथनों में 'जूठन' विशिष्टता के लिए जाना जाता है। आत्मकथन में अंकित दलित जीवन के सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और शैक्षिक उत्पीड़न के विविध रूपों से परिचित हो गए। प्रस्तुत इकाई में आप 'जूठन' के माध्यम से भारतीय जातिआधारित सामाजिक संरचना की जटिलता और इस व्यवस्था ने दिए जातिदंश की पीड़ा को झेलती मानवता की तकलीफ़ को समझ सकेंगे और विशेष रूप से जाति प्रथा की निम्नलिखित सच्चाइयों को जान सकेंगे,

- भारतीय जाति संरचना में अस्पृश्यता से पीड़ित अपमानित, तिरस्कृत मानव मन की वेदना को समझ सकेंगे;
- जाति के अमानुषिक और पाशविक स्वरूप को जान सकेंगे;
- वर्ण-जाति वर्चस्व संस्कृति की सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक घेरेबंदी, प्रायोजित दासप्रथा की पाशविकता से परिचित हो सकेंगे;
- 'जूठन' के माध्यम से व्यक्तिगत अनुभवों की समूहगत व्याप्ति को समझ सकेंगे;
- अवमानना, तिरस्कार, घृणा और बहिष्कार के उस समाजशास्त्र से अवगत हो सकेंगे जिसके द्वारा हीनता बोध द्वारा शोषण परंपरा को जीवित रखे जाने की साजिश से रूबरू हो सकेंगे;
- शैक्षिक संस्थानों के जातिवादी स्वरूप से परिचित हो सकेंगे;

- ज्ञानअर्जन से बदलते सामाजिक-आर्थिक परिदृश्य की सच्चाई का विश्लेषण कर सकेंगे;
- दलित चेतना के विद्रोही स्वर से परिचित हो सकेंगे;
- भारतीय समाज व्यवस्था के वास्तविकताओं के दस्तावेज आत्मकथन के महत्व का मूल्यांकन कर सकेंगे; और
- दलित सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन में आत्मकथनों के योगदान का समुचित मूल्यांकन कर सकेंगे।

18-1 प्रस्तावना

आत्मकथन 'जूठन' पर केन्द्रित इकाइयों में यह दूसरी इकाई आपके सामने है। ओमप्रकाश वाल्मीकि के जीवनानुभवों का यह दस्तावेजीकरण भारतीय समाजव्यवस्था के जातिवादी अमानुषिक चेहरे पर से आवरण हटाकर उसकी सच्चाई से हमें रूबरू कराता है। दलित आत्मकथन की विशेषता यह है कि लेखक जीवन की स्मृतियाँ, अनुभव मात्र व्यक्तिगत नहीं है वह संपूर्ण समूह के जातिगत उत्पीड़न की सच्चाई को हमारे सामने आइने की तरह प्रतिबिंबित करती हैं। जाति संरचना के सनातनी परंपरागत स्वरूप, छुआछूत के अमानवीय व्यवहार, आर्थिक विवंचना, अवमानना-अवहेलना एवं बहिष्कार की मानवरचित व्यवस्था है। जाति सोपानीकृत व्यवस्था और उसके द्वारा शोषण का एक सा स्वरूप संपूर्ण भारत में देखने को मिलता है। छुआछूत के अमानवीय व्यवहार तथा जातिगत हिंसा के शिकार दलित आज भी स्वाधीन देश में एक गुलाम सदृश्य जीवन जीने को बाध्य किए जा रहे हैं। गांवों की संरचना में दलितों की बसावट के लिए विशेष नियम बनाए गए हैं, जिसका पालन न करने पर दलित हिंसा के शिकार होते हैं। गांवों देहातों के दक्षिण में ही इनकी बस्तियाँ बसी होती हैं। दलित बस्ती के दरवाजे गांव के विरुद्ध दिशा में हुआ करते हैं। दलित बस्तियाँ गांवों के कुड़े-कर्कट के ढेरों पर, श्मशान के आस-पास, जहाँ मृत पशुओं की खाले उतारी जाती हैं के पास ही बसती हैं। आधुनिक स्वाधीन देश में हमें ऐसी बस्तियाँ हर गांव और कस्बों नगरों में दिख जाती हैं। सड़क के नाम पर कच्ची सड़कें जो ज्यादातर कीचड़ से भरी गड्ढेनुमा सड़कें होती हैं। नालियों के बिना सड़ांध मारता पानी झोपड़ियों के दरवाजे से बहता मिलेगा, आस-पास ही खुले शौचालय होने, से गांव भर की गंदगी इन्हीं बस्तियों के पास फेंकी जाती है। कुत्ते, सुअर बेधड़क घूमते नजर आएंगे। बहिष्कृत बस्तियों का यह स्वरूप हमें संपूर्ण भारत भर में एक सा देखने को मिलेगा। ओमप्रकाश वाल्मीकि की बस्ती और गाँव की रचना वर्णव्यवस्था और जातिप्रथा के कठोर नियमों के अनुसार ही है। गांव के एक कोने में बसी दलित बस्ती की हकीकत आजादी के बाद के भारतीय गांवों की संरचना और सच्चाई को उजागर करती है। ओमप्रकाश ऐसी ही बस्ती में जन्में और बड़े हुए वे लिखते हैं,

“हमारा घर चंद्रभान तगा के घर से सटा हुआ था। उसके बाद कुछ परिवार मुसलमान जुलाहों के थे। चंद्रभान तगा के घर के ठीक सामने एक छोटी-सी जोहड़ी (जोहड़ का स्त्रीलिंग) थी, जिसने चुहड़ों के बगड़ और गाँव के बीच एक फासला बना दिया था।”
(पृ.11 जूठन)

आधुनिक भारत के गाँव-कस्बों, नगरों में बसावट की यह परंपरा का निर्वाह आज भी उसी तरह होता है जिसका निर्धारण 'मनुस्मृति' के विधि-विधानों द्वारा तीन हजार वर्ष पूर्व किया गया था। आधुनिक भारत के विकास का संपूर्ण विश्वस्तर पर बोलबाला है लेकिन, इसी विकासशील देश में जातिप्रथा के अभिशाप को झेल रहे दलितों के विकास पर ध्यान न दिए जाने के दर्द को लेखक ने अभिव्यक्त किया है। चालीस वर्ष पहले की पुरानी स्थिति

में बामुश्किल ही परिवर्तन हुआ नजर आता है। विकास के साधनों का अभाव मात्र इन्हीं बस्तियों के लिए ही क्यों रहता है, लेखक ने इस आत्मकथा के द्वारा यह एक महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय प्रश्न उठाया है। एक नागरिक के संवैधानिक बुनियादी अधिकारों से दलित बस्तियाँ (मूल लेख देखकर छूटा हुआ अंश जोड़ें) “चारों तरफ गंदगी भरी होती थी। ऐसी दुर्गंध कि मिनट भर में साँस घुट जाए। तंग गलियों में घूमते सूअर, नंग-धड़ंग बच्चे, कुत्ते, रोजमर्रा के झगड़े, बस यह था वह वातावरण जिसमें बचपन बीता। इस माहौल में यदि वर्ण-व्यवस्था को आदर्श-व्यवस्था कहने वालों को दो-चार दिन रहना पड़ जाए तो उनकी राय बदल जाएगी।” (पृ. 11 जूठन)

दलित आत्मकथन दलित जीवनानुभवों की प्रामाणिक अभिव्यक्ति के दस्तावेज हैं। अभी तक साहित्य के क्षेत्र में हाशिए के समूहों की वेदना, पीड़ा उत्पीड़न, त्रासदी और जीवन की सच्चाई की अभिव्यक्ति प्रगतिशील, और जनवादी लेखन में भी नहीं हुई। यदि सौ वर्ष के हिंदी साहित्य के इतिहास को देखा जाए तो संपूर्ण साहित्य में जाति उत्पीड़न के स्वर हमें सुनाई नहीं देते। अनुभवजन्य अभिव्यक्ति आत्मकथनों ने भारतीय साहित्य में एक नया दालान खोल दिया है। अभिव्यक्ति का यह प्रयास अनायास नहीं था, इसके पीछे सामाजिक तथा सांस्कृतिक आंदोलन की लंबी पृष्ठभूमि रही है। दलित साहित्य की निर्मिति दलित मुक्ति आंदोलन से प्रेरित है। हजारों वर्षों से संचित मूकवेदना ने रचनात्मक धरातल पर सामाजिक यथार्थ को उजागर किया है। दलित मुक्ति आंदोलन की मुक्तिकामी प्रेरणा से विकसित दलित साहित्य की सबसे प्रखर और मुखर अभिव्यक्ति दलित कविता है। दलित आत्मकथन दलित साहित्य धारा का दूसरा सशक्त सर्जनात्मक पड़ाव है। दलित जीवन के वंचित, उत्पीड़ित, अपमानित तथा जातिदंश से आहत मानव मन की वेदना, की अभिव्यक्ति संताप, विद्रोह, की नकार में हुई जिसने व्यवस्था को बदलने की प्रतिबद्धता के साथ दलित चेतना को विस्तार दिया है। आत्मकथाकार की समतावादी जीवन दृष्टि और परिवर्तनवादी सोच से परिपूर्ण चेतना के कारण दलित आत्मकथनों ने भारतीय साहित्य में अपनी विशिष्ट पहचान कायम की है। दलित लेखकों द्वारा आत्मकथन विधा को अपनाने के तीन कारण हैं, एक दलित जीवन की मर्मांतक वेदना, छुआछूत के दंश, तिरस्कार, घृणा और अवमानना के अनुभवों की प्रामाणिक अभिव्यक्ति द्वारा दलित वर्ग के शोषण-दमन को उजागर करना। अभी तक के कथित आभिजात्य साहित्य ने जातिप्रथा के कारण उपेक्षित समुदाय के जीवन की वास्तविकता को साहित्य का विषय नहीं बनाया। आज वही वंचित, शोषित, अपमानित व बहिष्कृतों का जीवन जी रहे दलित अपने जीवन के तमाम जातिदग्ध अनुभवों को अभिव्यक्ति दे रहे हैं।

जातिगत समाजव्यवस्था की क्रूरता, निरंकुशता, जातिवादी अमानुषिकता पर पड़ा संस्कृति और सभ्यता का आवरण हटाकर उपेक्षित मानवता की मुक्ति के प्रयासों का परिचय दलित आत्मकथन दे रहा है। लेखक के यह अनुभव मात्र व्यक्तिगत नहीं बल्कि सम्पूर्ण दलित वंचित वर्ग का अनुभव है। दलित ने सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, शैक्षणिक स्तर पर हो रहे शोषण, उत्पीड़न के समूहगत अनुभवों की दारुण वास्तविकता को उजागर किया है। लेखक ने आत्मकथन की रचना के दौरान, बीते हुए कल के मर्मांतक अनुभवों के बारे में लिखा है “इन अनुभवों को लिखने में कई प्रकार के खतरे थे एक लंबी जद्दोजहद के बाद, मैंने सिलसिलेवार लिखना शुरू किया। तमाम कटों, यातनाओं, उपेक्षाओं, प्रताड़नाओं को एक बार फिर जीना पड़ा। उस दौरान गहरी मानसिक यंत्रणाएं मैंने भोगी। स्वयं को परत-दर-परत उधेड़ते हुए कई बार लगा - कितना दुखदायी है यह सब! कुछ लोगों को यह अविश्वसनीय और अतिरंजनापूर्ण लगता है।” (जूठन -लेखक की ओर से..)

18.2 जाति विद्वे"ा की लपटों से झुलसता बचपन

अभिव्यक्ति दलित आत्मकथनों में प्रखर रूप में हुई है। पिटाई, अवमानना, अपमान, तिरस्कार, दुर्वचन, गाली-गलौच और सतत् रूप से मानसिक उत्पीड़न द्वारा समाज के एक हिस्से के अस्तित्व को नकारना, बहिष्कृतों का जीवन जीने को बाध्य करना सामाजिक संरचना का यह ऐसा धिनौना और अमानवीय स्वरूप विश्व में शायद ही अस्तित्व में होगा। जाति अहं की तुष्टि के लिए सार्वजनिक रूप से दलित वर्ग को दुत्कार कर उसकी अस्मिता को चोट पहुँचाते रहना जातिप्रथा का सबसे क्रूरतम खेल है। जूठन में ओमप्रकाश वाल्मीकि बचपन के ऐसे ही संत्रासपूर्ण अनुभवों को बयान करते हैं। कथित श्रेष्ठ जातियाँ अपने जाति अहं तुष्टि हेतु किस प्रकार बालक ओमप्रकाश को बार-बार जाति के संबोधन द्वारा अपमानित करते हैं, शिक्षा के प्रति उसके बढ़ते आकर्षण को देखकर, सवर्ण शिक्षकों के द्वारा हतोत्साहित करने के लिए गए प्रयास, निश्चित रूप से जनतांत्रिक अधिकारों का हनन है, यह सभी को स्तंभित कर देते हैं। एक मेधावी छात्र होने के बावजूद सवर्ण शिक्षकों द्वारा किए जाने वाले भेदभावपूर्ण व्यवहार और अनवरत अवहेलना किए जाने के प्रसंगों को लिखते समय याद करके उसी दर्द और पीड़ा को एक बार फिर सहने के अहसास के बारे में लिखा है। बचपन में उन पर किए गए अन्याय और उत्पीड़न को तल्लख शब्दों में उद्घाटित करते हुए वे लिखते हैं,

"हेडमास्टर ने लपककर मेरी गर्दन दबोच ली थी। उनकी उँगलियों का दबाव मेरी गर्दन पर बढ़ रहा था। जैसे कोई भेड़िया बकरी के बच्चे को दबोचकर उठा लेता कक्षा से बाहर खींचकर उसने मुझे बरामदे में ला पटका। चीखकर बोले, "जा लगा पूरे मैदान में झाड़ू...नहीं तो... में मिर्ची डाल के स्कूल के बाहर काढ़ (निकाल) दूँगा।" (पृ.15 जूठन)

आपने देखा कि कालीराम मास्टर का ओमप्रकाश के साथ व्यवहार अतिशय कठोर और द्वेषपूर्ण है लेकिन विद्यालय में अन्य छात्रों के साथ वे ऐसा व्यवहार नहीं करते। जातिगत विद्वेष व्यक्त करने में वे किंचित भी लज्जा महसूस नहीं करते। मास्टर का यह व्यवहार गुरु-शिष्य परंपरा का कक्षा में ओमप्रकाश को शिक्षक द्वारा चूहड़ा 'चूहड़े का है?' जैसे जातिगत विशेषणों से संबोधित करना, 'अपमानित करते हुए "तेरा तो यह खानदानी काम है कह कर उसे जाति का अहसास कराते रहना और साथ ही 'दलित जातिगत पेशे ही करें' की नसीहत देना, बार-बार उलाहने देना 'चाहे जितना भी पढ़ ले, रहेगा तो चूहड़ा ही।' परिणामस्वरूप ओमप्रकाश जैसे और भी दलित बच्चे हीनताबोध से ग्रस्त होकर पाठशाला के वातावरण में अपने को अजनबी पाते। सवर्ण शिक्षकों की जातिवादी परंपराओं में आस्था और उसे कायम बनाए रखने के प्रयास दर्शाते हैं कि संविधान में दिए गए समता, स्वतंत्रता और न्याय के मूल्यों में उनका विश्वास नहीं है बल्कि उन मूल्यों की अवहेलना करने में अधिक है। दलित छात्रों के साथ भेदभाव करते हुए उनमें जरा भी संकोच या लज्जा का भाव नहीं दिखता। जाति अवमानना के ये अनुभव मात्र ओमप्रकाश के नहीं, उन सभी दलित बालकों के हैं, जो आजाद भारत में जन्में हैं। बालक ओमप्रकाश दो दिनों तक स्कूल, के बरामदों और मैदान में झाड़ू लगाता रहा। लेकिन तीसरे दिन पढ़ने की इच्छा से कक्षा में बैठते ही हेडमास्टर जाति के 'गालीनुमा संबोधन' से उसे प्रताड़ित करते हैं। जाति के इस अभिशाप से अभिशप्त दलित बच्चों का अनुभव जाति व्यवस्था की क्रूर सच्चाई से हमें रूबरू कराता है। जिस व्यवस्था में दलितों (अछूत) को इंसान मानने से ही इंकार हो तो उनकी शिक्षा-दीक्षा के प्रति सवर्ण शिक्षकों का असंवेदनशील व्यवहार अमानवीयता की सभी सीमाएं लांघ देता है।

आप यह जान चुके हैं कि धर्म ग्रंथों के विधि-विधानों ने स्त्री तथा शूद्र-अतिशूद्रों (अछूत) को ज्ञान के अधिकार से हजारों वर्षों तक वंचित रखा है। आज के आधुनिक समाज के

अपेक्षाकृत शिक्षित वर्ग द्वारा ही परंपरागत सनातनी मान्यताओं का अग्रक्रम में पालन किया जाना चिंता का विषय है। भविष्य की पीढ़ी के निर्माण में शिक्षकों की बड़ी भूमिका हो सकती है, जातिभेद के निर्मूलन में शिक्षकों की सक्रिय भूमिका होनी चाहिए, ना कि जातिगत घृणा और तिरस्कार को बढ़ावा देने की जिसका परिणाम अंततः परिवर्तन प्रक्रिया को ठप्प करने में ही कारगर हो सकता है। वंचित समुदायों में ज्ञानार्जन की इच्छा सदियों से रही है। प्रमाणस्वरूप हमें शंबूक और एकलव्य की लगन व अथक प्रयासों को देखना चाहिए। ज्ञान की साधना में लीन शंबूक का राम द्वारा वध तथा द्रोणाचार्य द्वारा एकलव्य से गुरुदक्षिणा में दाएं हाथ का अंगूठा गुरुदक्षिणा में माँग लेना उस छद्म को खोलता है जो कि वर्ण-जातिवादी प्रवृत्तियों की उपज है। लेकिन लेखक के साथ हो रहे अन्याय उत्पीड़न का समय जनतांत्रिक गणराज्य में संविधान द्वारा प्रदान किए गए स्वतंत्रता, समता और न्याय जैसे मानवीय मूल्यों को अपनाए जाने के बाद का है।

ओमप्रकाश तीन दिन तक हेडमास्टर के कहने पर स्कूल के मैदान और बरामदों में झाड़ू लगाता रहा। तीसरे दिन उनके पिता ने वहाँ से गुजरते हुए देखा कि पाठशाला में पढ़ने की जगह ओमप्रकाश (मुंशीजी) झाड़ू लगा रहा है, सिर से पैर तक धूल से सने अपने प्रिय बालक को पास बुलाकर पूछा "मुंशी जी यो क्या कर रहा है? फफक कर रो पड़े बालक ओमप्रकाश के बताए जाने पर कि 'कक्षा में पढ़ने भी नहीं देते और तीन दिन से रोज झाड़ू लगवा रहे हैं।" गुरसे से पिताजी ने चिल्लाकर कहा "कौन सा मास्टर है वो द्रोणाचार्य की औलाद, जो मेरे लड़के से झाड़ू लगवावे हैं...। मास्टर कालूराम की डाँट से भी वे डरे नहीं बल्कि डटकर सामना करते रहे।" जाते-जाते हेडमास्टर को सुनाकर बोले, मास्टर हो ...इसलिए जा रहा हूँ..पर इतना याद रखिए मास्टर...यो चूहड़े का यहीं पढ़ेगा....इसी मदरसे में। और यो ही नहीं, इसके बाद और भी आवेंगे पढ़ने कू। "पिता के इस साहस और संकल्प को देखकर यह स्वाभाविक रूप से मान लिया जाए कि, दलित वर्ग अपनी पहचान के प्रति सचेत हो रहा था।"

जातिवादी उत्पीड़न का सिलसिला मास्टर तक ही सीमित नहीं था, त्यागियों के लड़के, स्कूल के सवर्ण सहपाठी भी किसी-न-किसी बहाने दलित छात्रों को प्रताड़ित करने में पीछे नहीं थे। ओमप्रकाश आठवी कक्षा के मेधावी छात्र थे तब भी उत्पीड़न से बच नहीं पाए थे। उत्पीड़न के अनुभव को उन्हीं के शब्दों में जान लें। "एक दिन मैं घर से स्कूल जाने के लिए कुछ जल्दी ही निकल पड़ा। घर में कोई घड़ी तो थी नहीं, अंदाज से ही निकलते थे। पक्की सड़क पर, स्कूल जाने वाला शायद उस समय मैं अकेला था। मेरे पीछे-पीछे सूरजभान तगा का बेटा बृजेश आ रहा था। शायद खेत पर जा रहा था। उसने आवाज दी। स्कूल थोड़ी सी दूर रह गया था, "अबे, चूहड़े के, तेरे तो सचमुच सींग निकल आए हैं। तू तो बड़ी शेखी में रहता है। तेरी तो चाल ही बदल गई है।" बिना उत्तर दिए मैं जाने लगा, तो उसने आगे बढ़कर मेरा रास्ता रोक लिया। डाँटते हुए बोला, "सुना है तू पढ़ने में हुशियार है।" उसने लाठी का एक सिरा मेरे पेट में गाड़ दिया "करके हमें भी तो दिखा तू कितना हुशियार है। वह झगड़े पर उतारू था। मैं झगड़े से बचना चाहता था। मुझे चुप देखकर वह फिर गुर्गया", कितना भी पढ़ लियो, रहेगा तो चुहड़ा ही... यह जाति दंभ भरे सवर्ण के द्वारा कहे गए तिरस्कार के शब्द थे। दलित वर्ग के बच्चे पढ़ लिखकर सरकारी नौकरी पाकर अपना जीवन सुधार लेंगे और तब तगाओं की धमकियाँ उन्हें डरा नहीं सकेंगी, उनसे बेगार नहीं करा सकेंगी, यह डर तगाओं को सताने लगा था। बारहवीं की कक्षा में ओमप्रकाश को सायन्स के शिक्षक ने फेल किया। वे नहीं चाहते थे कि वे बारहवीं पास करे। प्रैक्टिकल के लिए जब भी वे लैब जाते तो अध्यापक उन्हें कोई न कोई काम देकर बाहर भेज देते। एक शिक्षक की जातिवादी प्रवृत्ति का यह व्यवहार उसके मंतव्य को स्पष्ट करता है। इंटर तक पहुँचे ओमप्रकाश के सपनों को पूरा होते वे देख नहीं सकते।

आज भी तमाम शिक्षा संस्थानों में दलित-आदिवासी छात्रों के साथ जातिगत के चलते भेदभाव उत्पीड़न, अपमान, फेल करने की कोशिशें किए जाने से दलित-आदिवासी छात्रों द्वारा आत्महत्याओं की खबरें रोज ही अखबारों में छपती हैं। देश की संवैधानिक शिक्षानीति के बुनियादी ढाँचे को भी प्रभुत्वशाली-जातिवादी वर्ग अपने अनुसार चलाना चाहता है। संविधान द्वारा प्रयुक्त शिक्षा में आरक्षण के प्रावधानों के बावजूद अनेक निजी शिक्षा संस्थानों में दलित छात्रों को दाखिले न देकर इस आरक्षण नीति का सरेआम उल्लंघन किया जाता है। विजय गौड़ अपने आलेख में इसके सही आकलन को प्रस्तुत करते हैं "बावजूद प्रतिकूल स्थितियों के बालक ओमप्रकाश का शिक्षा प्राप्ति का ध्येय और उनके पिता का अपने पुत्र को शिक्षा दिलाकर जाति सुधारने का सपना रूप ग्रहण करता गया। किसी भी कठिन परिस्थिति में वाल्मीकि अपने ध्येय से विचलित नहीं हुए।"

(विजय गौड़ - जूठन एक विमर्श, पृ. 81)

'जूठन' में अपमान झेलने के त्रासद अनुभवों की अभिव्यक्ति हमारे समक्ष विषम सामाजिक संरचना की क्रूरता, अमानवीयता की पराकाष्ठा और जाति द्वेष की निर्ममता को उजागर करती है। गरीबी से लगातार जूझते हुए भी दलित गरीब माता-पिता अपने बच्चों को शिक्षित देखना चाहते हैं। वे इस बात को समझ चुके हैं कि शिक्षा से ही उनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति में बदलाव आ सकता है।

18-3 'जूठन' की वैचारिक पृष्ठभूमि

'जूठन' के लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि भारतीय समाज के बहिष्कृत वर्ग के त्रासद अनुभवों की अभिव्यक्ति द्वारा जाति-व्यवस्था की निर्मम परंपराओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। लेखक का उद्देश्य जाति आधारित संरचना में अछूत कहे गए वर्ग को तुच्छता का अहसास करा देने वाले अमानवीय उत्पीड़न, के विविध आयामों को मात्र वर्णित करना ही नहीं है बल्कि अपमानित होने के असहनीय दर्द और मर्मांतक पीड़ा सहने की विवशता के साथ-साथ जातिगत संरचना में व्याप्त विषमता के कारणों की पड़ताल करना भी है। आत्मकथन में अभिव्यक्त जाति आधारित उत्पीड़न को मात्र सामाजिक बहिष्करण के ही नहीं बल्कि आर्थिक बहिष्करण के साथ जोड़कर देखे जाने को लेखक ने गंभीरता के साथ उपस्थित किया है। जाति व्यवस्था में उच्च या निम्न श्रेणी निर्धारण के साथ ही उत्पादन प्रक्रिया में हिस्सेदारी प्राकृतिक संसाधनों के अधिकार से और व्यवसाय चुनने के अधिकार से वंचित इसलिए संपूर्ण भारत में दलित वर्ग अर्थव्यवस्था की इस संरचना में पूर्णतः अनुपस्थित है। बहिष्करण और उत्पीड़न के सभी आयामों को आत्मकथन अपने में समेटकर समाज के समक्ष अनेक प्रश्न उपस्थित करता है। दलित जीवन की त्रासद स्थिति से मुक्ति की तीव्रता इसके मूल उद्देश्य में शामिल है। हिन्दी के आभिजात्य साहित्य में दलित जीवन यथार्थ और शोषण की परंपरा संबंधी अभिव्यक्ति लगभग नहीं है। दलित साहित्य ने इस अवरोध को तोड़कर बहुआयामी शोषण परंपरा की नृशंसता को पर्त दर पर्त खोलकर, इसे नकारते हुए इस निर्धन, क्रूर व्यवस्था पर आघात करके संपूर्ण परिवर्तन का मानो संकल्प लिया है। यह प्रतिबद्धता का साहित्य डॉ. आंबेडकर के समतामूलक समाज निर्माण के स्वप्न को साकार करने के लिए रचनात्मक कृतसंकल्प स्तर पर दिखाई देता है। इसकी चाहत में ऐसा समाज शामिल है जो समता, स्वाधीनता, बंधुत्व और न्याय के मूल्यों पर आधारित होगा। इसलिए इसका विद्रोही तेवर वर्ण-जाति-दास्य को प्रश्रय देने वाली ब्राह्मणवादी सोच पर कठोर प्रहार करता है। वह विषमतामूलक, शोषण, उत्पीड़नकारी व्यवस्था को नकारकर समतामूलक समाज निर्मिति को दलित वर्ग की चेतना में उतारता है। वह वर्चस्व के दैवी आधारों की अवैज्ञानिक, अमानवीय, तर्कहीन जड़ता के विरोध में मोर्चा खड़ा करता है। 'जूठन' के लेखक मनुष्य के विकासक्रम को वैज्ञानिक दृष्टि से परखे

जाने का विचार प्रस्तुत करते हैं। लेखक अपने जीवन के त्रासद यथार्थ का चित्रण करके तमाम जातिवादी, शोषणवादी परंपराओं, रूढ़ियों को तोड़ने की अपील करते हैं। नया समाज बनाने की दिशा में अग्रसर दलित मुक्ति आंदोलन का नैतृत्व करते वे नजर आते हैं। आभिजात्यतावादी सौंदर्यशास्त्र के मानदंडों को नकारते हुए विद्रोही साहित्य का नया समाजशास्त्र व सौंदर्यशास्त्र निर्मित करते हैं।

18.4 अवमानना व बहि"कार

स्वाधीनता के बाद के पहले शिक्षित पीढ़ी अस्पृश्यता का दंश झेलते हुए बचपन गुजारने का दर्द और पिछली पीढ़ का दर्द कत्तई भिन्न नहीं है। यह वह ऐतिहासिक सत्य है जिसे दलित रचनाएं आज के अनुभवों को उजागर करके उस समाज की नग्न वास्तविकता से रूबरू करा देते हैं। साहित्य की पूर्व परंपराओं को अस्वीकार करती हुई जनसामान्य की बेहतर जीवन की आकांक्षा सम्मानजनक व्यवहार आर्थिक उत्पादनों में भागीदारी, समतामूलक समाज की स्थापना द्वारा शोषणमुक्त दलित साहित्य की मूल्यगर्भ चेतना है। दलित आत्मकथनों में अभिव्यक्त समूह मन सामाजिक परिवर्तन और शोषण से मुक्ति की आकांक्षा में जी रहा है। नारकीय जीवन से मुक्ति की निरंतर छटपटाहट, अन्याय के विरोध के अथक प्रयास, शारीरिक-मानसिक हिंसा से टूटते मनोबल को फिर से संवारकर उठने की आकांक्षाप्रयास लेखकीय अनुभवों से समूह के अनुभव एकाकार होते हैं। संविधान ने भारत के नागरिक के रूप में जो पहचान जनतांत्रिक माँग है जो उन्हें दी है। लेकिन जाति की सोपानीकृत व्यवस्था इन्सान की जन्मगत पहचान को ही प्रमुखता देती है। व्यक्ति द्वारा अर्जित योग्यता विद्वता और सामर्थ्य से मिली पहचान जन्म से मिली पहचान के सामने तुच्छ हो जाती है। जन्मगत श्रेष्ठता के अहंकार से ग्रसित मानसिकता व्यक्ति विशेष के साथ जातिगत तिरस्कार और घृणा का व्यवहार करने या अपमानित करने में हिचकिचाहट महसूस नहीं करती। लब्धप्रतिष्ठित लेखक और भारत सरकार के संस्थान में अधिकारी के पद पर सेवारत वाल्मीकि के साथ डी.एस.सी नए कमांडेंट से मुलाकात के दौरान कमांडेंट को व्यवहार में यकायक आए बदलाव में जातिगत अहंकार झलकता चाहे फौज के अधिकारी हो अथवा ब्राह्मण समझकर ओमप्रकाश वाल्मीकि से प्रेम करने वाली प्राध्यापक कुलकर्णी की बेटी सविता, वाल्मीकि के दलित होने का पता चलते ही सभी का उनके प्रति व्यवहार तिरस्कार में बदल जाता है। अचानक बातचीत का सिलसिला खंडित होकर उनका असहज हो जाना, खामोशी का छा जाना, माहौल का बोझिल होना, संवाद एकाएक रुक जाना, इसे सामने बैठे व्यक्ति के प्रति तिरस्कार का भाव अनादर, अवमानना दर्शाना ही कहा जाएगा। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने जाति के कारण झेली इस चुभन को सार्थक शब्दों में अभिव्यक्त किया है "ऐसी एक नहीं, अनेक घटनाएं हैं। बचपन से लेकर आज तक न जाने कितने दंश जिस्म पर ही नहीं, मन पर भी चुभे हैं।" इस घृणा-द्वेष के पीछे कौन से ऐतिहासिक कारण हैं? जब-जब भी वर्ण-व्यवस्था को आदर्श मानने वालों और हिंदुत्व पर गर्व करनेवालों से पूछा तो सीधे उत्तर देने के बजाय बात को अक्सर टाल जाते हैं या नाराज हो जाते हैं। ज्ञान की बड़ी-बड़ी बातें कहेंगे। लेकिन इस सच्चाई को स्वीकार नहीं करेंगे कि आदमी को जन्म के आधार पर से वंचित रखना किसी भी तरह न्यायसंगत नहीं है। सवर्णों के मन में कई प्रकार के पूर्वाग्रह हैं जो आपसी संबंधों को सहज नहीं होने देते हैं। जातिव्यवस्था की संकीर्णता की सच्चाई को उजागर करते हुए जाति निहाय सामाजिक मूल्यों को आत्मकथन प्रशंकाकित करता है दो इन्सानों के बीच के प्रेम संबंध जाति के झूठे मिथक से प्रभावित होकर संवादहीनता की स्थिति पैदा कर देता है। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि सम्मान के सामाजिक मूल्य जातिनिरपेक्ष नहीं हैं। व्यक्ति की प्रतिष्ठा अथवा व्यक्ति को प्राप्त सम्मान समाज संरचना में उसके सामाजिक स्तर पर निर्धारित है। जाति व्यवस्था व्यक्ति के गुण और व्यक्ति द्वारा अर्जित योग्यता को नकारती

है। जाति निहाय सामाजिक मूल्यों से हमारी समाज व्यवस्था निर्देशित होती हैं। दलित आत्मकथाएं दलित जीवन की सभी जटिल समस्याओं और संघर्षों को उजागर करते हुए इस असमान व्यवस्था को प्रश्नांकित करती हैं। लेखक अपने जाति दग्ध अनुभवों को प्रामाणिकता के साथ कलमबद्ध करते हुए बार-बार अतीत के उन अपमानजनक समय से मानों फिर गुजरता है, तब स्वाभाविक रूप से वह अत्यधिक पीड़ा, वेदना, क्षोभ और क्रोध से भर उठता है। जिन्होंने उनके जीवन को नारकीय बना दिया और ऐसा करना वे अपना अधिकार मानते आ रहे हैं, लेखक उन्हें सचेत करते हुए इस स्थिति में प्रतिबद्धता के साथ परिवर्तन लाने का ऐलान भी करता है। लेखक के विकसित आत्मबोध ने मूक समुदाय की वेदना (जो भेदभाव की विषम नीतियों और आर्थिक गैर-बराबरी की धर्मनीतियों का परिणाम है) को शब्दबद्ध करके चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को बेपरदा किया है। लेखक जब अनुभवों को शब्दबद्ध करता है तो वह मात्र उसके नहीं बल्कि उसकी पिछली कितनी ही पीढ़ियों के अनुभवों को अभिव्यक्ति दे रहा होता है। स्वतंत्रता के बाद की पहली शिक्षित दलित पीढ़ी ने जाति निर्मूलन की वैचारिकी को केन्द्र में रखकर समग्र समता और सम्मान की मूल्य स्थापना के लिए रचनात्मकता के क्षेत्र में सोच समझकर प्रवेश किया। सदियों तक जिन्हें शिक्षा, व ज्ञान से वंचित रखा गया, यहाँ तक कि अस्पृश्यों द्वारा वेद सुनने या उच्चारण करने पर उनके मुख में दस अंगुल लंबी तप्त लोहे की सलाख डालने और कानों में उबलता शीसा उड़ेल कर प्राण दंड देने के धर्म आदेशों का पालन तीन सहस्र वर्षों तक बेरोक-टोक चलता रहा। लिखने और पढ़ने के अधिकार से वंचित अछूत वर्ग को सर्वप्रथम क्रिश्चियन मिशनरी ने शिक्षा का अवसर दिया था। ब्राह्मण वर्ग ने धर्म विरोधी आचरण बताकर ईसाइयों के इस मानवतावादी कार्य का लगातार विरोध किया। महान समाज सुधारक म.जोतिबा फुले और सावित्री बाई फुले ने अछूतों और लड़कियों के लिए पुणे में पहली पाठशालाएं 1950 में प्रारंभ की थीं। फुले पति-पत्नी को इस प्रयास के लिए प्रशंसा मिलनी चाहिए थी, लेकिन पुणे के सनातनी ब्राह्मणों ने उन पर जानलेवा हमले करवाए और उनके द्वारा शुरू किए विद्यादान के इस महान कार्य को रोकना चाहा। सावित्री बाई को पाठशाला में जाते समय भयंकर अपमान सहना पड़ता। उन पर कीचड़, गोबर फेंक कर अभद्र गालियां देकर उन्हें भयभीत करके हतोत्साहित करने के प्रयास किए गए। लेकिन देश की प्रथम शिक्षिका सावित्री बाई फुले ज्ञान की ज्योति से दलित व लड़कियों के जीवन को शिक्षा के द्वारा प्रकाशमान व प्रदीप्त करने के लिए प्रतिबद्ध थीं। पुणे के ब्राह्मणों के इस प्रकार के सनातनी व प्रखर विरोध के बावजूद वे अपने उद्देश्य प्राप्ति के लिए अटल बनें रहे।

18.5 जाति का सामाजिक-आर्थिक पक्ष

दलित रचनाकार कल्पनातीत जीवन अनुभवों को सभी के साथ सांझा करते हुए, समाज रचना की उन विद्रूपता को सामने लाते हैं, जिस पर हिंदी भाषा का रचनात्मक क्षेत्र लगभग चुप्पी साधे रहा। हम आपको यह बताना चाहते हैं कि हमारी समाजव्यवस्था का ताना-बाना जाति के धागों से बना हुआ है। यहाँ पर एक जाति में जन्में व्यक्ति को उसके अंत तक उसी पहचान के साथ जीना पड़ता है, उसकी योग्यता, गुणवत्ता, उच्चशिक्षा अथवा व्यवसाय से भी जन्मगत पहचान नहीं बदलती। किसे सम्मानित और किसे अपमानित या प्रताड़ित किया जाए इसकी नीति जाति संरचना संस्कृति और व्यवहार में पहले से तय है। यह विभाजन सामाजिक रचना तक सीमित नहीं बल्कि इस प्रस्थापित नीति का आर्थिक क्षेत्र में भी वर्चस्व है। जहाँ पर जाति श्रेष्ठता की मनमानी चलती रही है। जाति आधार पर ही व्यक्ति का आर्थिक स्तर भी सुनिश्चित है। कनिष्ठ जातियाँ श्रमिक वर्ग में और वरिष्ठ जातियाँ मालिक वर्ग के रूप में चिन्हित हैं। व्यवसायों का बँटवारा भी जाति आधार पर किया गया है। सभी मलीन कार्य कनिष्ठ जातियों पर जोर-जबरदस्ती थोपे गए हैं और उन्हें

इसे करते रहने के लिए सामाजिक दबाव बनाए रखने के लिए क्रूरता की हदें भी पार करते हुए देखा जा सकता है। उत्पादन के सभी साधन और प्राकृतिक संसाधनों तक पर मात्र श्रेष्ठ जातियों का ही अधिकार था (अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रीय और वैश्यों का) इस देश के संपूर्ण संसाधनों पर आज के समय में भी इन्हीं कथित श्रेष्ठ जातियों का अधिकार है। गुलामों की श्रेणी में रखे गए शूद्र को तीनों वर्णों की सेवा के लिए धर्म आधारित जाति संरचना में उपलब्ध कराया गया है। अतिशूद्र जो (दलित) इस वर्ण व्यवस्था से बाहर है, जिसे अस्पृश्य माना गया है, अस्पृश्यता के कारण वह निकृष्ट घृणित, अस्वच्छ, कामों को बेगारी में करें यह उस पर पाबंदी लगा दी है।

यदि हम इसे अधिक सरल शब्दों में बताएं कि शोषण की परंपरा के निर्वाह के लिए अतिशूद्रों के कर्तव्य निश्चित कर दिए। इन नियमों का उल्लंघन करने पर मृत्युदंड जैसी सजाओं की व्यवस्था धर्म के विधिविधानों में रखी गई। काम का यह बँटवारा जाति निहाय किए जाने से इसके परिवर्तन पर प्रतिबंध लग गया। इसे समझना बहुत आसान है कि जन्म के सिद्धांत को पिछले जन्मों के कर्म से और व्यक्ति के भाग्यवाद से जोड़ दिया गया, जिसे ईश्वरनिर्मित होने का भ्रम फैलाया गया और तब वह अपरिवर्तनीय बताया गया। जन्म-कर्म-भाग्य के सिद्धांत को धर्म से और धर्म को ईश्वर से जोड़ने के अवैज्ञानिक तर्क पर दासता की नीति बनाई गई। श्रम से जुड़ी जातियाँ शूद्र-अतिशूद्र-अंत्यज-अछूत-चांडाल की श्रेणी से कभी ऊपर नहीं उठ सकेगी और गुलामों की स्थिति में कोई बदलाव नहीं होगा। इसके लिए धर्म-ईश्वर और जन्म-कर्म सिद्धांत को व्यवहार में लागू करने की जिम्मेदारी तीनों श्रेष्ठ वर्ण और जातियों को ही सौंप दी गई। श्रेष्ठता, वर्चस्व, सत्ता और संपदा को हासिल करने का इतना आसान तरिका हाथ आने पर तीनों वर्णों ने इस पर अमल ही नहीं किया बल्कि सदा के लिए एक लिखित नियमावली बनाकर गरीब, अशिक्षित, निरीह जनसमूह पर गुलामी लादी गई।

श्रम विभाजन के साथ ही श्रमिकों के विभाजन से श्रमिक जातियाँ विशिष्ट व्यवसायों को करने के कारण अनेकानेक जातियों में विभाजित होती गई। सवर्णों द्वारा दमन, शोषण, हिंसा और उत्पीड़न किए जाने को धर्मशास्त्रों से मिले समर्थन के कारण अस्पृश्य अपनी दयनीय स्थिति और गुलामी को भाग्य और जन्म-कर्म के विधान के रूप में स्वीकारते चले गए। उनमें व्याप्त अशिक्षा से अंधविश्वास मजबूत होता चला गया तथा अछूतों ने अपनी उस शोषित स्थिति को भाग्य मानकर समझौता कर लिया। डॉ. आंबेडकर अपने एक निबंध में जिसका शीर्षक "वह समाज जिसे हिन्दुओं ने बनाया" में कहते हैं कि जब वर्तमान जाति व्यवस्था की जननी वर्ण व्यवस्था की योजना तैयार की गई थी, तब आदिम और जरायम जातियाँ विचाराधीन नहीं थीं। अतः उनके दर्जे और स्थान के बारे में कुछ नहीं कहा गया। पर अछूत जातियाँ वर्ण व्यवस्था के समय विचाराधीन थीं। इसलिए उनको सामाजिक श्रेणी, काम-धंधे रहने की जगह और उनके साथ और उनके द्वारा किए जाने वाले व्यवहार के नियम निर्धारित हैं। मनु ने अपने नियमावली में साफ कहा है कि वर्ण चार हैं और पाँचवाँ वर्ण नहीं है। इसका मतलब यह है कि मनु ने अछूतों को पाँचवें वर्ण के रूप में वर्ण व्यवस्था के महल में प्रवेश कराने से इनकार कर दिया था। इसलिए अछूतों को वर्ण बाह्य (वर्ण व्यवस्था के बाहर के लोग) कहा गया। हिंदू समाज में उनके लिए कठोर वर्जनाएं हैं। सनातनी हिंदू नेता ऐनापुरे शास्त्री ने अछूतों के लिए कहा है कि जिस तरह मनुय जूता पहनता है, पर जूता शरीर का अंग नहीं है।"

मजदूरी के लिए सवर्ण जमींदार, व्यापारी, महाजन, साहूकारों पर निर्भर है। जन्मना अछूत माने गए इस कारण अन्न-धान्य, फल-सब्जी, पशुधन से प्राप्त दूध आदि को इकट्ठा करने, संवर्धन करने अथवा बेचने जैसे काम उनसे नहीं कराए जाते। खेत खलियानों में हल जोतने, मवेशियों को चराने, गोबर उठाने, मरे हुए जानवरों को उठाने, गांवों में सवर्णों

के घरों की शादि-व्याह में आंगन की लिपाई, पुताई, सफाई करने जैसे परिश्रम के काम उन्हीं से करवाए जाते। इनमें से अधिकतर बेगार में हीं करवाए जाते। काम न करने या काम से जी चुराने का उन्हें हक ही नहीं दिया गया। बेगार में करवाए गए काम के बदले में रात को प्रत्येक घर से मात्र एक रोटी और फसल कटाई के बाद मात्र पाँच किलो अनाज देने की परंपरा है, जिसे देने पर सवर्ण साहुकार और जमीनों के मालिक ऐसा आभास निर्मित करते हैं, जैसे कि वे उन पर बहुत भारी उपकार कर रहे हैं।

ओमप्रकाश इस दारुण स्थिति का मार्मिक चित्रण करते हैं।

"फसल-कटाई को लेकर अक्सर खेतों में हुज्जत चलती रहती थी। मजदूरी देने में ज्यादातर तगा कंजूसी बरतते थे। काटनेवालों की मजबूरी थी। जो भी मिलता, थोड़ी-बहुत ना-नुकर के बाद लेकर घर लौट आते। घर आकर कुढ़ते रहते या तगाओं को कोसते रहते। लेकिन भूख के सामने विरोध दम तोड़ देता था। हर साल फसल-कटाई को लेकर मोहल्ले में बैठकें होतीं। सोलह पूली पर एक पूली मेहनताना लेने की कसमें खाई जातीं। लेकिन कटाई शुरू होते ही बैठकों के तमाम फैसले, कसमें हवा हो जाते थे। इक्कीस पूली पर एक पूली मजदूरी मिलती थी। एक पूली में एक किलो से भी कम गेहूँ निकलते थे। भारी से भारी पूली में एक किलो गेहूँ नहीं निकलता था। यानी दिन भर की मजदूरी एक किलो गेहूँ से भी कम।"

18.5.1 सामाजिक विद्रोहियों से अवमानित दलित

ओमप्रकाश अपने सहपाठी मित्र हिरमसिंह की शादी में पिताजी के साथ गए थे। शादी के दूसरे दिन विदाई से पहले दूल्हे को गांव की रस्म के अनुसार 'सलाम' के लिए जाना था। उसकी सास जिन जिन घरों में सफाई का काम करती थी उन घरों से दूल्हे-दूल्हीन को नेग मिलने की खातीर ढोल बजाते हुए ले गई थी। साथ में ओमप्रकाश को भी जाना पड़ा। दूल्हे को प्रत्येक घर के सामने खड़ा करके उस घर के लोगों से हिरम की सास कुछ रुपये या कपड़े, बर्तन मिलने की आशा में गुहार लगाती। जवाब में सुनना पड़ता "इन चूहड़ों का तो कभी पेट ही ना भरता।" हिरम स्कूल में पढ़ता है यह सुनकर उन घरों की महिलाओं को खुशी नहीं होती बल्कि तिरस्कार से देखते हुए ओमप्रकाश से पूछती है "तू भी-पढ़े है?" मैंने हाँ में गर्दन हिलाई। तू कौन सी किलास में है?

"नाँवी की परीक्षा दी है।" अगला सवाल अपमानित करने वाला था "चूहड़ों के जातक (बच्चे) भी पढ़ने जावें है मदरसे में" उसे आश्चर्य हो रहा था।

"कितना बी पढ़ लो.....रहोगे तो चूहड़े ही," कहकर उसने अपने भीतर की भड़ास निकाली और अंदर चली गई। श्रेष्ठता का दंभ भरा आचरण और व्यवहार से दलितों में हीनताबोध पैदा करता है, जिससे बचने का उनके पास कोई उपाय नहीं है। ऐसी प्रथाएं मात्र इसीलिए जीवंत रखी गईं, जिसके द्वारा दलितों को उनकी हीन-दीन स्थिति से हर समय अवगत कराया जाये तथा श्रेष्ठत्व के दंभ को बरबरा रखा जाए। दलित जीवन को एक अभिशाप में बदलने के ऐसे सैकड़ों प्रसंगों का मार्मिक चित्रण जूठन में किया गया है। दलितों के बच्चे स्कूल से बड़ी संख्या में बाहर हो जाते हैं क्योंकि सहपाठियों द्वारा 'चूहड़ा' चूहड़े जैसे जाति नाम से पुकारा जाना, शिक्षकों द्वारा दलित बच्चों के खानपान पुराने कपड़े पहनने को मजाक बनाना, पूरी कक्षा के सामने अपमानित करना उनके अहंत्व का हिस्सा बना हुआ है। मेधावी छात्रों को आगे बढ़ने से रोकने में शिक्षकों की भूमिका नकारात्मक है।

'अबे चूहड़े के', 'चूहड़े का है?' सूअर की कितनी साटे खाई हैं? (सूअर का गोश्त) एक पाव तो खा ही लेते होंगे? शिक्षक द्वारा छुआछूत मिटाने के प्रयास किए जाने चाहिए लेकिन वे खुद ही दलित छात्रों को प्रताड़ित, अपमानित करने की प्रवृत्तियों को बढ़ावा दे रहे होते हैं। सहपाठी भी शिक्षक से प्रेरणा लेकर ओमप्रकाश को छेड़ते रहते, "अबे चूहड़े के, सूअर खाता है। 'चूहड़े के, तेरे तो सींग निकल आए हैं।' तू तो बड़ी शेखी में रहता है। 'तेरी तो चाल ही बदल गई।' कितना भी पढ़ लियो, रहेगा तो चूहड़ा ही-"

गांव के अन्य लोग भी जली कटी सुनाने से चूकते नहीं। दलितों का पग-पग पर अनादर करना मानों अदलित संस्कृति का अनिवार्यता ही है और यह जातिगत भेदभाव का सिलसिला गांवों तक ही नहीं रुकता बल्कि शहरों में भी अपने उसी आदिम व क्रूर रूप में उपस्थित है। बचपन के इन दारुण अनुभवों ने ओमप्रकाश को अंतर्मुखी और चिड़चिड़ा बना दिया था। इस प्रकार अपमानित होने के अनुभव बचपन से लेकर युवा होने तक निरंतर रूप में दलित व्यक्ति के व्यक्तित्व को बौना बना देती है। वह कहीं भी कभी भी नकारे जाने की पीड़ा को झेलता रहने को विवश कर दिया जाता और इसके लिए जिम्मेदार वर्चस्ववादी संकीर्ण परंपरा के निर्वाह में कथित श्रेष्ठवर्ग सामाजिक परिवर्तन के प्रति सचेतन नहीं हो पाया है। लेखक अवमानना से आहत मन की वेदना को बयान करते हुए लिखते हैं। 'बचपन की कई ऐसी घटनाएँ मन के भीतर पसरी हुई हैं, जो अतीत के काले स्याह दिनों की साक्षी हैं।'

जातिव्यवस्था के समर्थन का परिणाम हमें भेदभावपूर्ण सामाजिक व सांस्कृतिक ढाँचे के संवर्धन, पुनःनिर्माण, संयोजन के रूप में दिखाई देता है। धर्म का कर्मकांडी प्रयोजन भयनिर्मिति के साधन के रूप में किया जाता है। इन्हीं आडंबरों के द्वारा दलितों-अछूतों को शिकंजे में जकड़कर रखा जाता रहा। ईश्वर-धर्म, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म, भाग्यवाद जैसी अवैज्ञानिक तर्क निर्मिति द्वारा अशिक्षित जनों में गहरा विश्वास पैदा करके उसकी आड़ में सनातनी वर्चस्ववाद फूलता-फूलता है। धार्मिक, सामाजिक दबाव में दलितों से परिश्रम के काम बेगारी में करवाए जाते हैं। ऐसे ही श्रम के दोहन और शोषण के द्वारा दलितों से बेगारी में काम करवाने के प्रसंग को ओमप्रकाश चित्रित करके जाति से निर्धारित शोषणमूलक व्यवस्था का विरोध करते हैं। "उन दिनों गाँव में मरने वाले पशुओं को उठाने का काम भी चूहड़ों के जिम्मे था। जिनके घर में जो काम करता था, उनके पशु भी उसे ही उठाने पड़ते थे। इसके बदले में कोई मेहनताना या मजदूरी नहीं मिलती थी। एक गाय, एक भैंस या बैल को उठाने के लिए चार से छह लोगों की जरूरत पड़ती थी। जिसका मवेशी मर जाता था, उसे जल्दी लगी रहती थी। इसलिए वह बार-बार बस्ती में आकर चिल्लाता था। देर होने पर गालियाँ बकता था। उठाने वालों को इकट्ठा करने में अकसर देर हो जाती थी।"

दलित साहित्य की वैचारिकी का महत्वपूर्ण विस्तार दलित चेतना में परिवर्तित होकर शोषण की इस पुरातन परंपरा पर प्रश्नचिह्न लगाती है। शोषकों द्वारा धर्म और जातिश्रेष्ठता के अनैतिक, अवैज्ञानिक इस्तेमाल की कड़ी आलोचना प्रस्तुत करती है। दमन-शोषण की अमानवीयता के धार्मिक-सामाजिक आर्थिक पक्ष को उजागर करके 'जूठन' सामाजिक जड़ता पर आघात करता है।

18-5-2 जाति का आर्थिक संदर्भ

धर्म द्वारा अपरिवर्तनीय बना दी गई जातिवादी संस्कृति ने सामाजिक घेरेबंदी की सहायता से समता, सहभागिता, प्रेम, करुणा, बराबरी की हिस्सेदारी जैसे जनतांत्रिक मूल्यों को नकार कर विषमता को प्रश्रय दिया। विषमतामूलक सामाजिक संरचना आर्थिक असमानता

को मजबूत करके अंततः दास्यत्व की परंपरा का निर्वाह करती है। जाति अपने आप ही आर्थिक व्यवस्था को भी नियंत्रित करने की एक जटिल व्यवस्था है। उत्पादन के आर्थिक संसाधनों में दलितों की हिस्सेदारी को मनु द्वारा प्रेषित विधि विधानों ने सिर से नकार कर जो तीनों कथित श्रेष्ठ वर्णों की (वर्ण-जाति) सेवा के लिए दलितों को 'दास' श्रेणी में रखा। उत्पादन के आर्थिक संसाधनों को तीनों वर्ण के अधिकार में कर देने से जो जीविकोपार्जन के लिए इन्हीं वर्णों पर निर्भर रहें। निम्न श्रेणी में रखे जाने पर अस्वच्छ, घृणित माने गए काम, और व्यवसाय करने की अनिवार्यता भी उन पर थोप दी।

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने स्वाधीनता के बाद के दशकों में भी दलितों की आर्थिक दुरावस्था के चित्रण द्वारा हिन्दी प्रदेशों में जारी जाति प्रथा की कट्टरता को उजागर किया है। उत्पादन के साधनों से वंचित कर दिया गया दलित वर्ग मजदूरी के लिए पूर्णतः सवर्ण जमींदारों पर ही निर्भर होता है। अन्न-धान्य, फल-सब्जी, दूध बेचने यहाँ तक कि कपड़े बेचने जैसे व्यवसाय करने से भी यहाँ की जड़मूल जाति प्रथा उन्हें रोकती है। अस्पृश्यता के कारण कोई भी सवर्ण उनसे ये वस्तुएं खरीदता नहीं। खेत खलियान जोतने, मवेशी चराने, गोबर उठाने, मरे हुए जानवरों को उठाने, गांव के सवर्णों के घर की शादी-ब्याह उत्सव, पर्व में उनके घर आंगन की लिपाई, पुताई, और सफाई करने जैसे परिश्रम के काम उन्हीं के जिम्मे डाले गए हैं। अधिकतर ये काम बेगार में ही करवाए जाते। परिश्रम के बदले में प्रत्येक पशु पर एक रोटी और फसल के बाद सारे काम के बदले में मात्र पाँच किलो अनाज देकर, जमीन मालिक उन पर बहुत भारी उपकार करने का अहसास भी जताते हैं।

'जूठन' में ओमप्रकाश वाल्मीकि ने इस दारुण स्थिति का मार्मिक चित्रण करके गांवों में सत्ताधारियों द्वारा उत्पीड़न, शोषण के अपनाए जा रहे बरबरतापूर्ण तरीकों से अवगत कराते हुए दलितों के आर्थिक शोषण की सच्चाई से रूबरू किया है।

“फसल-कटाई को लेकर अक्सर खेतों में हुज्जत चलती रहती थी। मजदूरी देने में ज्यादातर तगा कंजूसी बरतते थे। काटने वालों की मजदूरी थी। जो भी मिलता, थोड़ी-बहुत ना-नुकर के बाद लेकर घर लौट आते। घर आकर कुदते रहते या तगाओं को कोसते रहते। लेकिन भूख के सामने विरोध दम तोड़ देता था। हर साल फसल-कटाई को लेकर मोहल्ले में बैठकें होतीं। सोलह पूली पर एक पूली मेहनताना लेने की कसमें खाई जातीं। लेकिन कटाई शुरू होते ही बैठकों के तमाम फ़ैसले, कसमें हवा हो जाते थे। इक्कीस पूली पर एक पूली मजदूरी मिलती थी। एक पूली में एक किलो से भी कम गेहूँ निकलते थे। भारी से भारी पूली में एक किलो गेहूँ से भी कम।”

दलितों के पास आमदनी का उनका अपना साधन न होने, भूस्वामियों पर आर्थिक निर्भरता और परिणामतः गरीबी, भुखमरी, अभाव के चक्र से छुटने के प्रयास अक्सर असफल ही हो जाते। अच्छा और पेटभर भोजन उन्हें कभी प्राप्त नहीं हो सका इसलिए जब कभी गांव के जमींदारों या तगाओं के घर में शादी-ब्याह होने की खबर आती तो दलितों के बीच हर्ष की लहर दौड़ जाती। शादी-ब्याह के आयोजन से पूर्व सारे परिश्रम के काम दलितों से बेगारी में ही करवाए जाते, उन्हें यह आशा दी जाती कि काम के बदले में उन्हें भरपेट अच्छा जायकेदार भोजन मिलेगा। सुखदेव त्यागी के लड़की की शादी में माता-पिता द्वारा किए गए परिश्रम को याद करके ओम प्रकाश लिखते हैं, "सुरेन्द्र तब पैदा भी नहीं हुआ था। उसकी बड़ी बुआ यानी सुखदेव सिंह त्यागी की लड़की की शादी थी। उनके यहाँ मेरी माँ सफाई करती थी। शादी से दस-बारह दिन पहले से माँ-पिताजी ने सुखदेव सिंह त्यागी के घर-आँगन की सफाई, लिपाई-पुताई से लेकर अनेक काम किए थे। बेटा की शादी को गाँव भर की इज्जत का सवाल माना जाता था। कहीं कोई कमी न रह जाए। गाँव भर से चारपाइयाँ ढो-ढोकर जनवासे में इकट्ठी की थीं पिताजी ने।

बारात खाना खा रही थी। माँ टोकरा लिए दरवाजे से बाहर बैठी थी। मैं और मेरी छोटी बहन माया माँ से सिमटे बैठे थे। इस उम्मीद में कि भीतर से जो मिठाई और पकवानों की महक आ रही है, वह हमें भी खाने को मिलेगी।

जब सब लोग खाना खाकर चले गए तो मेरी माँ ने सुखदेव सिंह त्यागी को दालान से बाहर आते देखकर कहा, "चौधरी जी, ईब तो सब खाना खा के चले गए...म्हारे जाकतों (बच्चों) कू भी एक पत्तल पर धर के कुछ दे दो। वो बी तो इस दिन का इंतजार कर रहे ते।"

सुखदेव सिंह ने जूठी पत्तलों से भरे टोकरे की तरफ इशारा करके कहा, "टोकरा भर तो जूठन ले जा री है...ऊपर से जाकतों के लिए खाना माँग री है? अपनी औकात में रह चूहड़ी। उठा टोकरा दरवाजे से और चलती बन।"

सुखदेव सिंह त्यागी के वे शब्द मेरे सीने में चाकू की तरह उतर गए थे, जो आज भी अपनी जलन से मुझे झुलसा रहे हैं।

उस रोज मेरी माँ की आँखों में दुर्गा उतर आई थी। माँ का वैसा रूप मैंने पहली बार देखा था। माँ ने टोकरा वहीं बिखेर दिया था। सुखदेव सिंह से कहा था, "इसे ठाके अपने घर में धर ले। कल तड़के बारातियों को नाश्ते में खिला देना..."

हम दोनों भाई-बहनों का हाथ पकड़ के तीर की तरह उठकर चल दी थी। सुखदेव सिंह माँ पर हाथ उठाने के लिए झपटा था, लेकिन मेरी माँ ने शेरनी की तरह सामना किया था। बिना डरे।

“उसके बाद माँ कभी उनके दरवाजे पर नहीं गई और जूठन का सिलसिला भी उस घटना के साथ बंद हो गया था।”

भारतीय सामाजिक संरचना में सबसे निम्न श्रेणी में चिन्हित समाज से बहिष्कृत अछूतों के आर्थिक उत्पादन के छीने जाने से उन्हें आधार दूसरों की (सवर्ण) जूठन पर जीने के लिए मजबूर करने की परंपरा का समर्थन तथा नियंत्रण धर्म के हाथ में है। इस निर्णय को बदलने का अर्थ है जाति संरचना को बदलना अथवा इसका समूल निर्मूलन किया जाना। डॉ. आंबेडकर के जाति व्यवस्था निर्मूलन निबंध आलेख में उन्होंने कहा है कि ‘जूठन’ के माध्यम से ओमप्रकाश वाल्मीकि ने विषमतामूलक सामाजिक संरचना की निर्मिति के पीछे संलग्न विचारधारा पर अनुभवात्मक अभिव्यक्ति द्वारा प्रकाश डाला है। भारत के सामाजिक आंदोलनों ने निरंकुश तथा वर्चस्ववादी विचारधारा के रूप में चिन्हित किया है। लेखक का स्पष्ट मत है कि आर्थिक घेरेबंदी ने दलित समुदाय का जीवन संघर्ष दोहरा कर दिया है। पहचान व आत्मसम्मान के संघर्ष में आर्थिक संघर्ष भी सम्मिलित है।

18-6 Hkk"kk vkj f' KYi

जाति उत्पीड़न, अवमानना, तिरस्कार, वंचना, भूख, बहिष्कारजन्य त्रासद जीवनानुभवों की अभिव्यक्ति मुक्तिकामी चेतना और यथार्थवादी आग्रहों द्वारा सर्जनात्मक साहित्य के केन्द्र में स्थान पा चुकी है। आत्मकथा ‘जूठन’ व्यक्तिगत चिंतन से सामाजिक चिंतन की ओर बढ़ते हुए उत्पीड़न की बर्बर सामाजिक संरचना की समाजशास्त्री समीक्षा प्रस्तुत करके यथास्थितिवादी संस्कृति को बेनकाब करती है। डॉ. हरपाल सिंह ‘अरुश’ आत्मकथा लेखन को ‘साहसिक कदम’ मानते हैं। वे कहते हैं। “आत्मकथाएं अपने लेखकों के साथ हुए व्यवहार और उस व्यवहार की प्रतिक्रिया का खुलासा करने के दस्तावेज के रूप में सामने आती हैं।” कथित सवर्ण आलोचकों द्वारा दलित साहित्य पर विशेषकर आत्मकथनों

पर कलाहीन, नीरस, व्यक्तिवादी होने के आरोप लगाए जाते रहे हैं। हम कह सकते हैं कि हिन्दी के दलित साहित्य ने सामाजिक व्यवस्था के जिस विद्रूप को उद्घाटित किया है उसने सामाजिक विषमता के समाजशास्त्र को परखने का नया दृष्टिकोण दिया है। हिन्दी साहित्य में मौजूद कुलीनता के दंभ को वह चकनाचूर करता हुआ हाशिए के समाजों से अपने नायक-नायिका चुनता है। समाज के निम्न माने गए इस समूह ने वैदिक परंपराओं के संस्कृतनिष्ठ, कृत्रिम कलावादी मूल्यों को टुकराकर समतामूलक समाज की स्थापना के लिए नया सौन्दर्यशास्त्र निर्मित किया। हाशिए का समाज और कथित सवर्ण समाज के बीच में फैली असीम दरार को मिटाकर बहिष्कृतों को मुख्यधारा में कैसे शामिल किया जाय यह उसकी मुख्य चिंता है। दलित साहित्य इस अर्थ में मुक्ति-कामी साहित्य की भूमिका का निर्वाह करता है।

मराठी के प्रख्यात आलोचक (दिवंगत) डॉ. मनोहर वानखेड़े का मानना है कि जिस भारतीय सौन्दर्यशास्त्र में दलित साहित्य की आशयनिष्ठ समीक्षा करने की क्षमता न हो, उस सौन्दर्यशास्त्र को टुकरा देने में कोई हानि नहीं है, क्योंकि आकृतिनिष्ठ भूमिका से दलित साहित्य को न्याय मिलने वाला नहीं है। संघर्ष का साहित्य अनुभवनिष्ठ होता है, यह अनुभव अत्यंत पीड़ादायी, अपमानित करके जीवन को नरकतुल्य बनाने वाला है। उच्च वर्ग द्वारा दिया यह संत्रास आभिजात्य साहित्य सृजन के क्षेत्र में प्रवेश करने से रोक दिया गया। यह संदर्भ अस्पृश्यों के जीवन से जुड़े होने से उसे अपवित्रता का आख्यान माना गया अर्थात् साहित्य के कथित पवित्र क्षेत्र में प्रवेश करने पर प्रतिबंध रहा। दलित लेखन ने आभिजात्यता के दंभ को तोड़ने का साहस किया इसकी सृजनात्मक अभिव्यक्ति ने अस्पृश्यता की जघन्य बर्बर-पाशविकता का प्रखर विरोध किया गया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि का कहना है कि पारंपरिक मूर्धन्य आलोचक दलित साहित्य को पूर्व परंपरागत संस्कृतनिष्ठ काव्य शास्त्रीय मानदंडों पर खारिज करते हुए इसके वस्तुगत यथार्थ, मूल्य और विचार (दर्शन) को अनदेखा करते हैं। दलित साहित्य विद्रोह और नकार के संघर्ष से उपजा है। (ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र (पृ. 49) वे आगे कहते हैं 'दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र पर विचार करने के लिए किसी भी कृति के आकार और आशय को दृष्टि में रखना होता है। हिन्दी साहित्य हो या संस्कृत साहित्य वह आकृतिनिष्ठ ही है। वहाँ आकार की प्रधानता है। शब्द की रमणीयता समीक्षकों के लिए बौद्धिक विकास का काम करती है।' (वही पृ. 49)

पारंपरिक संस्कृतनिष्ठ मानदंडों से दलित साहित्य में अभिव्यक्त आशय की गहराई को नापा नहीं जा सकता, जीवनवादी साहित्य मूल्यों की संघर्षवादी प्रवृत्ति से कलावादी साहित्यिक मूल्य अपने कल्पनालोक की वायवीय मनोरंजनपरकता के कारण दूर-दूर तक नाता नहीं जोड़ सकता। डॉ. म. ना. वानखेड़े ने कलावादी साहित्य विधि को नकारते हुए सच ही कहा है "जिस भारतीय सौंदर्यशास्त्र में दलित साहित्य की आशयनिष्ठ समीक्षा करने की क्षमता न हो, उस सौन्दर्यशास्त्र को टुकरा देने में कोई हानि नहीं है। क्योंकि आकृतिपरक भूमिका से दलित साहित्य को न्याय मिलने वाला नहीं है। (वही पृ. 41)

जूठन ने सामाजिक यथार्थ के उस पक्ष को सर्वविदित कर दिया, जिसे कथित आभिजात्य वर्ग ने देखकर भी अनदेखा किया। जन्म, कर्म के अवैज्ञानिक सिद्धांत गढ़कर, पुनर्जन्म व भाग्यवाद से जोड़कर सामान्य जन में धर्म के प्रति भय और आतंक की निर्मिति की इसके बाद की भूमिका धर्म की थी, धर्म के ठेकेदारों ने धार्मिक आडंबर के सहारे इस झूठ पर ईश्वर निर्मित होने से अपरिवर्तनीयता की मुहर लगा दी। धर्म द्वारा संवर्धित ब्राह्मणवाद ने अस्पृश्यता को जन्म से जोड़ दिया और वंचना, बहिष्कार, अवहेलना, उत्पीड़न और अभावपूर्ण जीवन को नियति बताकर दलितों पर थोप दिया था। 'जूठन' में यथास्थितिवाद के विरुद्ध अभिव्यक्त नकार और विद्रोह यथास्थितिवादियों की सदैव मालिक बने रहने की

आकांक्षा को चकनाचूर कर देता है। धर्म द्वारा दिखाए गए भय आतंक और सामाजिक स्थिति से समझौता करने की मानसिकता को झटककर व्यक्ति रूप में समाज की इकाई होने की पहचान, तथा अधिकार, अस्मिता के प्रति सचेत दलित वर्ग नया इतिहास रचने की ओर कदम बढ़ाता नजर आता है। 'जूठन' इतिहास में घटित अन्याय, अत्याचार, अपमान, उत्पीड़न और बहिष्कार की बनाई परंपरा को नकार कर छल कपट की उन नीतियों में छिपे सत्य से हमें रूबरू कराती है। जूठन में अभिव्यक्त व्यक्तिगत अनुभवों की व्याप्ति अभिशप्त दलित समाज के अनुभवों तक फैली है। आत्मकथन लेखन की पृष्ठभूमि के रूप में सघन होती गई वेदना के विस्फोट के बारे में डॉ. हरपाल सिंह अरुश कहते हैं "सामाजिक अन्तर्विरोध से उपजी विसंगतियों ने दलितों में गहन नैराश्य पैदा किया है, सामाजिक संरचना के परिणाम बेहद अमानवीय एवं नारकीय सिद्ध हुए हैं।" (दलित साहित्य की भूमिका, पृ. 41)

दलित आत्मकथन सामाजिक, सांस्कृतिक, और आर्थिक विसंगतियों की अभिव्यक्ति के लिए भावबोध की ऐसी भूमि का निर्माण करते हैं जिस पर एक नए सौन्दर्यशास्त्र की निर्मिति हो रही है। मनुष्य की खोयी हुई पहचान प्राप्त करने के संघर्ष को 'जूठन' उकेरता है, इसे दलित साहित्य की मूलचेतना के रूप में देखना होगा। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने सरल, लोकभाषा के प्रयोग के साथ-साथ रोजमर्रा के जीवन में प्रयोग में आने वाले मुहावरों के द्वारा दलित जीवन की सच्चाई को सशक्त अभिव्यक्ति दी है। आभिजात्य संस्कृतनिष्ठ भाषा को टुकराकर दलित साहित्य ने लोकभाषा को अपनाया है। शिष्ट साहित्य ने हमेशा से व्यवस्था के समर्थन में भाषा को कृत्रिम-अलंकृत बनाकर साहित्य को सामान्य जन की पहुँच से दूर रखा। ऐसा साहित्य मात्र मनोरंजन वायवीय कल्पना लोक में भ्रमण करने और सत्ता के केन्द्र व संस्थानों के गुणगान तक सीमित रहा। दलित साहित्य ने इस साहित्य परंपरा को तोड़कर सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक संघर्ष की अभिव्यक्ति के लिए परिवेशगत और जीवन से संपृक्त भाषा को अपनाया।

दलित जीवन यथार्थ को शब्दबद्ध करने की क्षमता उनकी अपनी बोली और भाषाएँ ही सहज रूप से उनके जीवन संदर्भों को, शोषण, अपमान, अभाव-तनाव विद्रोह, नकार को व्यक्त कर सकती हैं। डॉ. हरपाल सिंह अरुश आत्मकथात्मक शैली को अपनाने के बारे में लिखते हैं कि 'यह आत्मकथात्मक शैली ही है, जो किसी व्यक्ति के भोगे गए यथार्थ को ग्राह्य बनाती है। साथ ही इनके विश्वसनीयता का परिपक्व होने की प्रबलतम संभावनाएँ होती हैं।' (दलित साहित्य की भूमिका-पृ. 46)